

शरणागती

- Sri.Prasad Shintre

समर्थ गुरु श्री रामचंद्र जी महाराज, फ़तेहगढ उर्फ पूज्य श्री लालाजी महाराज के १४१वे पावन जन्मदिनपर मेरा आप सबको सादर प्रणाम।

“शरणागती” के विषय में, मेरी समझमें जो है, विचाररूप प्रकट करने का प्रयत्न करता हूँ। “शरणागती” शब्द में बहुत बड़ा अर्थ है। हमारी आध्यात्मिक उन्नती के लिये सत्यपद मार्गपर चलते हुए हर कदम पर हमें उसे धीरे धीरे समझना है, जानना है और अपनाना है। हमारी उन्नती शरणागती के बिना एक अधूरी यात्रा है। हमारी इस यात्रा में हमें पहले कदम से इसकी ज़रूरत है।

शरणागती को जन्म के समय हम अच्छी तरह से समझते हैं। तब एक प्रकारसे हम ईश्वर की बनायी हुई सभी चीज़ोंको समान समझते हैं। आग और पानी में तब हमें फर्क नहीं लगता। हम दोनों चीज़ोंको उसी प्रकार हाथ लगाते हैं यह जाने बिना की दोनोंका अनुभव अलग है। हम किसी भी चीज़ को समझने के लिये या पाने के लिये आसपास के सभी लोगोंपर निर्भर होते हैं। हम शिशु की स्थिति में सबसेज्यादा माँ पर निर्भर होते हैं। मराठी भाषा में माता को ‘आई’ कहते हैं। यह शब्द में ‘आ’ का अर्थ आत्मा और ‘ई’ का अर्थ ईश्वर है। हमारी मातासे अपना इतना

गहरा रिश्ता है जैसा कि आत्मा का ईश्वरसे, यानिकि परमात्मा से है। इस तरह माता और शिशु के रिश्तेमें ईश्वर पूर्ण रूप से प्रकट होते हैं जिसमें शिशु की मनोवस्था एक सच्चे साधक या भक्त की तरह है जो कि माँ पर परम निर्भर हैं। माँ एक मास्टर के समान है जो प्रेम का स्वरूप है, जो हमेशा अपने शिशुका खयाल रखती है और उसे जो योग्य है वह प्रदान करती है। इसमें शिशु अपनी माँ के प्रति संपूर्ण शरणागती की स्थिति में है। वह माँ के बगैर एक पल भी खुश नहीं रहता और माँ भी अपने सुख-दुःख को भुलाकर अपने शिशु के लिये किसी भी प्रकार का कष्ट या दुःख सहने के लिये और किसी भी प्रकार का साहस करने के लिये तैयार रहती है।

इतिहास के पन्नों में और अनगिनत कथाओमेंइस ईश्वरीय रिश्ते के कितने सारे मिसाल दिए गए हैं। प्राकृतिक तौर पर हम सबका भी हमारे माँ से ऐसा ही रिश्ता है जो हमने इसी जन्म में अनुभव किया है परन्तु जैसे जैसे हमारी उम्र बढ़ने लगतीहैं, हम शिशु से बालक, बालक से युवा और आगे इस दुनियादारी के चक्कर में इतने उलझ जाते हैं कि हम उस ईश्वर को जिसने हमें जन्म दिया, भूलने लगते हैं। इसका एक कारण यह है कि हम अपने विचार, कर्म और भावनाओंके जाल में पूरी तरह से फँस जाते हैं।

बढ़ते उम्र औरव्यावहारिक जगत के नियम अनुसार हमारी परस्पर निर्भरता धीरे धीरे उन्हीं चीज़ोंपर होती है जिससे हम फ़ायदा महसूस करने लगते है या हमेशा फ़ायदे की सोचते है। फिर हम ऐसी चीज़ोंके शरणमें जाते है, अधीन होते हैं। हमारे

आसपास बहुत सारे लोगों को हम देखते हैं, उनमें से कभी हम अपनेआपको भी देखते हैं जो छोटी छोटी चीज़, जैसे कि, अलग अलग स्वाद का खाना, पेयपान, सोना, चांदी, पैसा इत्यादिके शरण मेंजातेहैं और हमेशा उसे पाने के लिये तड़पते हैं।

इस प्रकार हम अहंकार, लोभ और मोह के शरण में जाते हैं। यह अहंभाव बचपनमें बहुत कम रहता है और उसी वजहसे हम दूसरोंसे बहुत कुछ सीखते हैं और सबसे कुछ ना कुछ शिक्षा पाते हैं। छोटा अहंभाव हमें इस तरह शिक्षा पाने में बहुत काम आता है। यही गुण हमें दूसरोंपर निर्भर होना सिखाता है, शिक्षक के शरण में आने में मदद करता है और धीरे धीरे हमारा बाह्य ज्ञान बढ़ाताहै। अलग अलग विषयोंका हमें जैसे जैसे ज्ञान होता है या हम समझते हैं कि हमारा ज्ञान बढ़ रहा है और हमें दूसरे लोगोंसे और सीखने की जरूरत नहीं है बल्कि उसके आगे जा कर हमें लगता है अब हम दूसरोंको सिखा सकते हैं, तब हमारा अहंभाव बढ़ चुका होता है। हमें लगता है कि मुझे अब बहुत कुछ मालूम है और मैं खुद सब कुछ कर सकता हूँ और जो भी चाहे पा सकता हूँ। यह कर्तृत्वभाव हमें शरणगती से दूर लेकर जाता है।

सत्यपद मार्गपर जब हम चलना शुरू करते हैं तो हमें ऐसा महसूस होता है कि प्राणाहुति एक बहुत काम की चीज़ है और हमें इससे बहुत लाभ हो सकता है। लेकिन हम दुनियादारी में इतने उलझे रहते हैं और उन्हीं कामोंके प्रति इतने शरणागत रहते हैं कि हमें अपने भले की ही नहीं सूझती। हमें लगता है कि हमारा व्यस्त जीवन ही सब कुछ है और प्रातःध्यान, पॉइंट ए,

पॉइंट बी पर ध्यान, शुद्धिकरण, रात ९ की प्रार्थना, सोते समय की प्रार्थना वगैरे सब कुछ उचित है परन्तु अभी उसके लिये समय नहीं है।

हमारा कर्तुत्वभाव सिर्फ अपनी प्रगति की सोचता है जो की एक स्वार्थ है। हमारी मानसिक अवस्था इन व्यावहारिक रीती रिवाजोंसे और अपने संस्कारोंसे ऐसी बन गयी है कि हमें सभी प्रकार के कार्योंमें फायदा या नुकसान दिखने लगता है।

ध्यान करने से भी हमें क्या फ़ायदा होगा इसी में हम उलझते हैं। हम चर्चा उन्हीं लोगोंसे करते हैं जिन्हें हम पसंद करते हैं। इस तरह शुरुआत में हम आध्यात्मिक प्रक्रिया, प्रवास या कर्तव्योंपर दुनियादारी के नियम लगाते हैं और समझते हैंकि हम हमारी प्रगति खुद कर रहे हैं या कर सकते हैं और सत्यपद मार्गका उसके लिये उपयोग करना है।

प्राणाहुति के अंतःप्रवाह से हमारे अंदर जब बदलाव आने लगते हैं तो हमें ऐसा अहसास होने लगता है की मास्टर पर परम निर्भरता के बिना सत्यपद मार्ग में आगे बढ़ना मुश्किल है। पूज्य श्रीरामचंद्र जी के दस आदेशोंका और ध्यान प्रक्रियाओंका अभ्यास तो करना है लेकिन जब तक हम मास्टर पर परम निर्भरता और उसके उपरांत शरणागती की तरफ नहीं बढ़ेंगे, तब तक उन्हें पूरी तरह से समझना और पालन करना नामुमकिन है।

शरणागती एक लंबी यात्रा है और उसे हर कदम पर समझने के लिये हमें प्रथम अपने आप पर भरोसा होना ज़रूरी है और फिर मास्टर पर विश्वास होना ज़रूरी है कि वह हमें अपने ध्येय तक पहुँचायेंगे।

शुरुआत में प्राणाहुति के अंतःप्रवाह से हम अपने-आप इतना महसूस करने लगते हैं कि हमारे विचार और भावनाओं पर उसका अच्छा असर हो रहा है। हमें ऐसा अनुभव होने लगता है कि हमारी इच्छाओं की तीव्रता धीरे धीरे कम हो रही है। हमारे जीवन में आनेवाले अलग अलग घटनाओं में हमारे अस्तित्व की तीव्रतासे पेश आनेका रवैया बदल रहा है। इसका कारण यह है की परस्पर निर्भरता, दूसरेके अस्तित्व को मानना, समझना, विश्वास रखना, ये सब बातें जब हम आत्मसात करने की कोशिश करते हैं तब हम आगे जाने के लिये तैयार होते हैं।

मास्टरके प्रति शरणागत हो जाना, है तो आसान लेकिन हमारे स्वयं के अस्तित्व की वजह से कठिन हुआ है। इसलिए शरणागती की स्थिति के पहले हमें परम निर्भरता के अलग अलग सोपानोंसे गुजरते हैं। परम निर्भरता जानना और समझना, इसमें बहुत अंतर है। हमारा अहंभाव मास्टर पर परम निर्भर होने में बाधक है। पूज्य श्री रामचंद्रजी के दस आदेश हमें यह सिखाते हैं की हम अपने प्रयास से किस प्रकार स्वयं को नगण्य बना सकते हैं।

पूज्य श्री के.सी. नारायणा सर ने, बसंत १९९८ में दिए हुए

सन्देश में, शरणागती विषय पर जो विचार प्रकट किये हैं, उसमें से मैं अपनी समझ में कुछ विचारोंको हिंदी भाषा में शब्दबद्ध करने की कोशिश करता हूँ।

वो कहते हैं की “हम सब किसको देखते हैं? ईश्वर या मास्टर, इस दूजाभाव का द्वन्द्व तबतक चलता है जबतक हम यह नहीं जानते कि मास्टर ही ईश्वर का दृश्य रूप है। वह दोनों एक ही है।”

जैसे जैसे हम सतत प्राणाहुति द्वारा उच्चतर चेतना का अनुभव लेने लगते हैं और हमें परम निर्भरता का अहसास होने लगता है, हमें लगता है की मास्टर ही सबकुछ कर रहे हैं और हमारी जरूरतें पूर्ण कर रहे हैं। यह भावना धीरे धीरे आगे बढ़ती है और हमें लगता है कि मास्टर ही हमारी रक्षा कर रहे हैं। यह एक संकल्पना की भावना है। हम इस भावना को आगे बढ़ाते हुए हर एक दुविधा को मास्टर के पास ले कर आते हैं और उसके उपाय की मास्टर से अपेक्षा करते हैं। इससे हम में यह भाव निर्माण होता है कि वह मास्टर है और हम सेवक।

इस प्रकार की भावस्थिति में कुछ हद तक अन्तर पार करने के बाद हमें यह बोध होता है कि मास्टर को ही हमें समझना है, देखना है और उसी में विलीन होना है। इस भाव में काफी समय तक रहने के बाद मास्टर ही हमें अगले स्थिति की तरफ ले कर जाते हैं। यहाँ हम मास्टर से व्यक्तिगत नाता जोड़ते हैं और उसमें प्रेमभाव जागृत होता है। प्रेमी की तरह हम मास्टर की

सतत संगती चाहते हैं। यह प्रेमी और प्रेमिका की भावना पूर्ण स्वरूप नहीं रहती इसलिए हममें बहुत बार धोखे की एक भावना जागती है।

इससे हम किसी भी कारण के बिना रोने लगते हैं क्योंकि हमारा अंतर्मन सतत अपने प्रेमी के सहवास के लिये तपड़ता है और उससे निश्चित करना चाहता है कि वह सतत कहीं आसपास है। उसके आगे की स्थिति यह है कि मास्टर ही हमारे अस्तित्व की बुनियाद है और उसके बिना हम नहीं के बराबर हैं। यहाँ हमारा रूपांतर परम निर्भरता से भक्ति की तरफ बढ़ता है। इसके आगे हमें ऐसे लगता है कि हम उसके आनंद प्राप्ति के लिए एक वस्तु है और हमने उसे आनंद देने के लिये सबकुछ करना चाहिए। अपने सर्व विचार, भावना, कृति और पूरा अस्तित्व ही उसके आनंदके खातिर है। हम खुदको इस प्रकार शुद्ध व पूर्ण रखने की कोशिश करते हैं और किसी भी तरह से उसके आनंद की पूर्ति में कसर नहीं छोड़ते। उसके बाद की स्थिति वह आती है जिसमें ऐसा लगता है की वह ही हमारी आत्मा है और हम उसका शरीर है।

अपना सबकुछ उसे समर्पित करने के बाद ऐसे स्थिति आती हैकि लगता है सबकुछ वह ही कर रहे हैं। यहाँ हमें अपनी अशुद्ध या जड़त्व की स्थितिका पता चलता है और जो कर्म हमारे लगते थे वह सभी उसी के हैं। फिर हमें लगता है वह ही सभी कर्मफल का आनंद ले रहे हैं व कर्म हमारा नहीं रहता, सिर्फ कृति रहती है और फल उसका है। इसका परिणाम यह होता है कि किसीभी कृत्य की भावना और फल हमारे ऊपर

संस्कार करना छोड़ देते हैं और हमें दूसरोंकी सूचना से समझना पड़ता है कि हमसे कोई कृति हुई है। कृति करनेका ज्ञान व उसका परिणाम, यह याद नहीं रहता और हम समझने लगते हैं की सबकुछ उसका ही है। “मैं और मेरा ”यह चैतन्यभावना पूरी तरह से बुझ जाती है। अलग होने का अहंभाव भी नष्ट हो जाता है।

इस स्थिति में हम ‘अभय’ अवस्था पाते हैं। इससे हमारे अंदर का संघर्ष खत्म होता है और कोई भी वस्तु, व्यक्ति, दृश्य, प्राणिमात्र इससे हमें डर नहीं लगता। शिशुकाभोलापन जो शेर और माँ में अंतर नहीं जानता, इसकी ऐसी आंतरिक अनुभूति होती है जो शब्दोंमें व्यक्त करना मुमकिन नहीं है। निर्भयता, यह एक ऐसा लक्षण है जिसे मास्टर को संपूर्ण शरणागत होना कहा जाता है।

असल में मृत्यु का डर यह कभी का पूरी तरह से पार हो चुका होता है और हम अपने अस्तित्व की समस्या का हल ढूँढ लेते है। यह स्थिति हमेंआगे ले जाकर ऐसा अनुभव देती है कि हम किसी भी कर्म की कोई चिंता नहीं करते, उसके फल की भी नहीं और उसके उपरांत के ज्ञान की भी नहीं। पूर्णतः स्थितप्रज्ञ व प्रतिकूल परिस्थितियों में सहनशील विरक्ति, यह भाव हमारे अंदर सब लोग देखतेहैं। असल में यह मास्टर के प्रति संपूर्ण शरणागती की अवस्था है। हम उसे सजीव मुर्दा कह सकते हैं जिसे स्तुति या सजा इसका कुछ भी अहसास नहीं होता। पूज्य मास्टर कहते हैं की ‘सबसे सहज और निश्चित उपाय यह है कि अपने आप को महान मास्टर के प्रति खरे अर्थ में

शरणगतकर दो और खुद एक सजीव मृत बन जाओ।

यह शरणागती की भावना अगर यंत्रवत या शक्ति के बल से प्रयत्नपूर्वक बढ़ाने की कोशिश की तो शायद ही सत्य होती है। वह हमारे अंदर सहज तरीकेसे, मनपर किसीभी प्रकार के दबाव या ज़ोर के बिना विकसित होनी चाहिए। इसमें बहुत सारे ऐसे अध्याय हैं जो कि अपने अस्तित्व के मूल और हृदय की गहरी गुफा में सीखने चाहिए।

अपना छोटासा हृदय हमें प्रेम के प्रति इतना कुछ सिखाता है जो कि शरणागती की नींव है। प्रेम, यह एक ऐसी अवस्था है जिसमें हम सिर्फ मास्टर को ही बिना अहंकार से देखते हैं, जानते हैं और समझते हैं।

इस तरह शरणागती को हमें सत्यपद मार्गपर चलते चलते धीरे धीरे समझना है, जानना है और अपनाना है।

प्रणाम